ISSN:2583-8849



डॉ. अर्चना गोदारा
सहायक आचार्य-समाजशास्त्र
राजकीय नेहरू मेमोरियल महाविद्यालय,हनुमानगढ़

आधा आकाश, अधूरी उड़ान

प्रस्तावना -

सृष्टि के रंगमंच पर स्त्री, पुरुष और प्रकृति के सभी रंग मिलकर जीवन का ताना-बाना बुनते हैं। प्रकृति ने हमें जैविक रूप से भिन्न बनाया, लेकिन इंसानी सभ्यता ने उस भिन्नता को सामाजिक और व्यावहारिक बंधनों की बेड़ियों में बदल दिया। आज जब हम प्रगति के रथ पर सवार होकर 21 वीं सदी के तीसरे दशक में खड़े हैं, तब भी यह सवाल उतना ही मौजूद है कि क्या समाज का हर हिस्सा अपनी पूरी क्षमता और गरिमा के साथ उड़ान भर पा रहा है? यह विमर्श केवल अधिकारों की सूखी मांग नहीं है, बल्कि यह हमारे सामूहिक मानस, हमारी अर्थव्यवस्था और हमारी सांस्कृतिक चेतना को झकझोरने का एक प्रयास है। संस्कारों की ढाल और भीतर का द्वंद्व बचपन की दहलीज पर कदम रखते ही खिलौनों के रंग और खेलने के तौर-तरीके चुपके से तय कर दिए जाते हैं। लड़कों को सिखाया जाता है कि रोना कमजोरी की निशानी है और लड़कियों को सहनशीलता का मूक पाठ पढ़ा दिया जाता है। यह जो शुरुआती परवरिश का ही एक ढर्रा है, वह आगे चलकर दोनों के मनों पर गहरा और अदृश्य बोझ डाल देता है। पुरुष जीवन भर अपनी भावनाओं को दबाने के तनाव में जीता है, जो उसे भीतर ही भीतर अवसाद और अकेलेपन की ओर धकेलता है। वहीं जो लोग समाज के तय किए गए दो दायरों (स्त्री और पुरुष) से इतर एक अलग पहचान लेकर पैदा होते हैं, उनका दर्द तो और भी गहरा है। समाज उनकी आंतरिक पहचान को स्वीकार करने के बजाय उनका उपहास उड़ाता है, जिससे वे गहरे आत्म-अलगाव और मानसिक आघात से गुजरते हैं। यह अनुकूलन इतना गहरा होता है कि कई बार सक्षम और सफल लोग भी अपनी योग्यताओं पर संदेह करने लगते हैं, ओर वे अपनी योग्यता का प्रदर्शन ही नहीं कर पाते। इसे वैचारिक स्तर पर खुद को कमतर आंकने की प्रवृत्ति कहा जाता है।

श्रम की कीमत और सत्ता का संतुलन - यदि हम जीवन के व्यावहारिक और आर्थिक पक्ष को देखें, तो विसंगतियाँ और साफ नजर आती हैं। घर की चारदीवारी के भीतर सुबह से रात तक बिना थके किया जाने वाला घरेलू काम और अपनों की देखभाल, कभी भी देश की उत्पादकता या आय के आंकड़ों में दर्ज ही नहीं होता। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के वैश्विक आंकड़े बताते हैं कि इंसानियत की गाड़ी को चलाने के लिए जो बिना वेतन का देखभाल का काम होता है, उसका तीन गुना से अधिक हिस्सा अकेले महिलाएं संभालती हैं। जब यही पैर घर से बाहर निकलते हैं, तो वहां भी चुनौतियाँ कम नहीं होतीं। समान योग्यता और समान समय देने के बावजूद, आज भी वैश्विक स्तर पर कामकाजी महिलाओं को पुरुषों की तुलना में लगभग 20 प्रतिशत कम पारिश्रमिक मिलता है। जबकि घर की जिम्मेदारियों में कोई कमी नही आती। कृषि और असंगठित क्षेत्रों में तो यह खाई और भी चौड़ी है। बड़े कॉर्पोरेट दफ्तरों या नीति-निर्धारक संस्थाओं के शीर्ष पर पहुँचने के रास्ते में एक अदृश्य दीवार हमेशा खड़ी रहती है, जिसे पार करना किसी भी साधारण पृष्ठभूमि से

आने वाले व्यक्ति के लिए आज भी भागीरथ प्रयास जैसा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था ने मतदान की शक्ति तो सबको बराबर दी, लेकिन जब नीतियों को आकार देने और सत्ता के संचालन की बात आती है, तो प्रतिनिधित्व की तस्वीर धुंधली हो जाती है। हाल के वर्षों में कानून बनाकर विधायिकाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत सीटों के आरक्षण की व्यवस्था की गई है, जो कि एक स्वागत योग्य और ऐतिहासिक कदम है। परंतु वास्तविक बदलाव तब आएगा जब ज़मीनी स्तर पर काम करने वाले जनप्रतिनिधि स्वतंत्र होकर सुरक्षा, बजट और विकास के निर्णय खुद लेने के लिए सशक्त होंगे, न कि किसी पारिवारिक प्रभाव की छाया में काम करेंगे।

साहित्य के दर्पण में सुलगते सवाल- साहित्य हमेशा से समाज के इन बदलते और सुलगते सवालों को अपनी संवेदनशीलता से सहेजता आया है। मध्यकाल की रूढ़ियों के बीच जब मीराबाई ने राजसी वैभव और सामाजिक बंधनों को त्यागकर अपनी अस्मिता की घोषणा की थी, तो वह तात्कालीन व्यवस्था के खिलाफ एक मूक किंतु बेहद मजबूत प्रतिरोधी स्वर था। आधुनिक युग की शुरुआत में जब महादेवी वर्मा ने भारतीय समाज में नारी के बंधनों का तार्किक विश्लेषण अपनी गद्य रचनाओं में किया, तो उन्होंने आने वाली कई पीढ़ियों की सोच की दिशा बदल दी। प्रेमचंद के कथा-संसार की 'धनिया'; जहाँ ग्रामीण परिवेश के आर्थिक और सामाजिक शोषण के खिलाफ डटकर खड़ी होती है, वहीं समकालीन दौर की मन्नू भंडारी और कृष्णा सोबती जैसी लेखिकाओं ने इंसानी मन के भीतर चलने वाले अंतर्द्वंद्वों, बिखरते रिश्तों और स्वतंत्र अस्तित्व की चाह को बेहद संजीदगी से उकेरा। बदलाव की यह बयार अब और आगे बढ़ी है। आज का संवेदनशील साहित्यकार समाज के उस सबसे उपेक्षित और हाशिये पर पड़े हिस्से-थर्ड जेंडर के जीवन के आर्थिक बहिष्कार, सामाजिक तिरस्कार और उनके मानवीय अधिकारों के दर्द को भी अपनी कहानियों और उपन्यासों का मुख्य विषय बना रहा है। यह साहित्य हमें याद दिलाता है कि किसी भी व्यक्ति की मनुष्यता और उसके सपने इस बात से तय नहीं होने चाहिए कि उसने किस शारीरिक पहचान के साथ जन्म लिया है।

निष्कर्ष -

'आधा आकाश' तब तक अपनी पूरी आभा के साथ नहीं चमक सकता, जब तक उसकी उड़ानों पर सामाजिक रूढ़ियों और आर्थिक परावलंबन के पहरे रहेंगे। यह बदलाव किसी एक वर्ग की दूसरे पर जीत का नहीं, बल्कि एक ऐसे संवेदनशील और न्यायपूर्ण समाज के निर्माण का है जहाँ हर नागरिक को अपनी क्षमता के अनुसार खिलने का पूरा अवसर मिले। जब हमारी सोच रूढ़ियों से मुक्त होगी, जब श्रम को उसका सही मूल्य मिलेगा और जब नीति-निर्माण में सबकी समान भागीदारी होगी, तभी हम एक सच्चे समतामूलक समाज के क्षितिज को छू पाएंगे। साहित्य इसी वैचारिक क्रांति की नींव रखता है, जिस पर एक सुंदर भविष्य की इमारत खड़ी होनी है।